हरी घास पर क्षण भर

'अज्ञेय' :

जन्म १९११; प्रकाशित रचनाएँ : 'भग्नदूत' (कविता) १९३३, 'विपथगा' (कहानियाँ) १९३७, 'शेखर : एक जीवनी' (उपन्यास), प्रथम भाग १९४१, द्वितीय भाग १९४४, 'चिन्ता' (काव्य) १९४२, 'परम्परा' (कहानियाँ) १९४४, 'कोठरी की बात' (कहानियाँ) १९४५, 'त्रिशंकु' (निबन्ध-संग्रह) १९४५, 'इत्यलम्' (कविता) १९४६, 'शरणार्थी' (कहानियाँ—कविताएँ) १९४८, 'अरे यायावर, रहेगा याद ?' (भ्रमण-कहानी) १९४९, 'हरी घास पर क्षण भर' (कविताएँ) १९४९। अंग्रेज़ी में : 'प्रिज़न डेज़ एंड अदर पोएम्स' (कविताएँ) १९४६।

सम्पादित ग्रन्थ : 'आधुनिक हिन्दी साहित्य' (निबन्ध-संग्रह) १९४२, 'तार सप्तक' (कविता-संग्रह) १९४३। संयुक्त रूप से 'नेहरू अभिनन्दन ग्रन्थ' १९४९। अंग्रेज़ी में : 'इंडिया लायब्रेरी' के अन्तर्गत 'श्रीकान्त' (शरच्चन्द्र चट्टोपाध्याय का अनुवाद) १९४४, 'द रेज़िग्नेशन' (जैनेन्द्रकुमार के 'त्यागपत्र' का अनुवाद), १९४६।

हरी घास पर क्षण भर

१६४७-४६ की कविताएँ

अज्ञेय

प्रगति प्रकाशन
नयी दिल्ली

प्रथमावृत्ति २०००

कृष्णप्रसाद दर द्वारा इलाहाबाद लॉ जर्नल प्रेस में मुद्रित और प्रोग्रेसिव
पब्लिशर्स, १४ डी फिरोजशाह रोड, नयी दिल्ली की ओर से
स० ही० वात्स्यायन द्वारा प्रकाशित

भूमिका

'हरी घास पर क्षण भर' के उपशीर्ष में यद्यपि इन कविताओं को '१९४७-४९ की कविताएँ' कहा गया है, तथापि यह लेखक की उस काल की समस्त कविताओं का संग्रह नहीं प्रत्युत गीतात्मक कविताओं का कलन ही है।

'इत्यलम्' संग्रह के नाम से आश्वस्त होकर जिन महानुभाव पाठकों ने चैन की साँस ली होगी, उन्हें इस संग्रह से निराशा होगी; किन्तु मुझे यह आशंका सदैव रही है कि वे मेरी किसी भी रचना से निराश ही होने के लिए कटिबद्ध—और कदाचित् प्रतिज्ञाबद्ध भी—है। अकारण लोगों को चिढ़ाता रहूँ, इतना अवकाश ही मुझे कभी नहीं मिला; पर संसार में उद्यानों की कमी के कारण जो जहाँ-तहाँ बची हरी घास की थिगलियों को भी उजाड़ फेंकना चाहें, उनके कुंठित अकरुण मन का शासन क्यों मान्य हो?

लेखक

अनुक्रम

तस्या रूपेणेमे वृक्षा हरिता हरितस्रजः

अथर्व० १०।८।३१

हरी घास पर क्षण भर

कितनी शान्ति ! कितनी शान्ति !

कितनी शान्ति ! कितनी शान्ति !
समाहित क्यों नहीं होती यहाँ भी मेरे हृदय की क्रान्ति ?
क्यों नहीं अन्तर-गुहा का अश्रृंखल दुर्वाध्य वासी,
अथिर यायावर, अचिर में चिर-प्रवासी
नहीं रुकता, चाह कर—स्वीकार कर—विश्रान्ति ?
(मान कर भी, सभी ईप्सा, सभी कांक्षा, जगत् की उपलब्धियाँ
सब हैं लुभानी भ्रान्ति !)

तुम्हें मैंने आह ! संख्यातीत रूपों में किया है याद—
सदा प्राणों मे कहीं सुनता रहा हूँ तुम्हारा संवाद—
बिना पूछे, सिद्धि कब ? इस इष्ट से होगा कहाँ साक्षात् ?
कौन-सी वह प्रात, जिसमें खिल उठेगी क्लिन्न, सूनी,
शिशिर-भीगी रात ?

चला हूँ मैं; मुझे सम्बल रहा केवल बोध—पग-पग आ रहा हूँ पास;
रहा आतप-सा यही विश्वास
स्नेह के मृदु घाम से गतिमान रखता निविड मेरे साँस और उसास।
आह, संख्यातीत रूपों में तुम्हें मैंने किया है याद !

किन्तु—सहसा हरहराते ज्वार-सा बढ़ एक हाहाकार
प्राण को झकझोर कर दुर्वार,
लील लेता रहा है मेरे अकिंचन कर्म-श्रम-व्यापार !
झेल लें अनुभूति के संचित कनक का जो इकट्ठा भार—
ऐसे कहाँ हैं अस्तित्व की इस जीर्ण चादर के इकहरी बाट के ये तार !

गूँजती ही रही है दुर्दान्त एक पुकार—
कहाँ है वह लक्ष्य श्रम का—विजय जीवन की—तुम्हारा
प्रतिश्रुत वह प्यार !
हरहराते ज्वार-सा बढ़ सदा आया एक हाहाकार !

अहं ! अन्तर्गुहावासी ! स्व-रति ! क्या मैं चीन्हता
कोई न दूजी राह ?
जानता क्या नहीं निज में बद्ध होकर है नहीं निर्वाह ?
क्षुद्र नल्की में समाता है कहीं बेथाह
मुक्त जीवन की सक्रिय अभिव्यंजना का तेज-दीप्त प्रवाह !
जानता हूँ। नहीं सकुचा हूँ कभी समवाय को देने स्वयं का दान,
विश्व-जन की अर्चना में नहीं बाधक था कभी इस व्यष्टि
का अभिमान !
कान्ति अणु की है सदा गुरु-पुंज का सम्मान।
बना हूँ कर्त्ता, इसी से कहूँ—मेरी चाह, मेरा दाह, मेरा खेद और
उछाह :
मुझ सरीखी अगिन लीकों से, मुझे यह सर्वदा है ध्यान,
नयी, पक्की, सुगम और प्रशस्त बनती हैं युगों की राह !

तुम ! जिसे मैंने किया है याद, जिससे बँधी मेरी प्रीत—
कौन तुम ? अज्ञात-वय-कुल-शील मेरे मीत !
कर्म की बाधा नहीं तुम, तुम नहीं प्रवृत्ति से उपराम—
कब तुम्हारे हित थमा संघर्ष मेरा—रुका मेरा काम ?
तुम्हें धारे हृदय में, मैं खुले हाथों सदा दूंगा बाह्य का जो देय—
नहीं गिरने तक कहूँगा, 'तनिक ठहरूँ क्योंकि मेरा चुक गया पाथेय!'

तुम ? हृदय के भेद मेरे, अन्तरंग सखा-सहेली हो,
खगों-से उड़ रहे जीवन-क्षणों के तुम पटु वहेली हो,
नियम भूतों के सनातन, स्फुरण की लीला नवेली हो,
किन्तु जो भी हो, निजी तुम प्रश्न मेरे, प्रेय-प्रत्यभिज्ञेय !
मरा कर्म, मेरी दीप्ति, उद्भव-निधन, मेरी मुक्ति, तुम मेरी
पहेली हो !
तुम जिसे मैंने किया है याद, जिससे बँधी मेरी प्रीत !
लुभानी है भ्रान्ति—
कितनी शान्ति ! कितनी शान्ति !

प्रणति

शत्रु मेरी शान्ति के—
ओ बन्धु इस अस्तित्व के उल्लास के;
ऐन्द्रजालिक चेतना के—
स्तम्भ दावाँदोल दुनिया में अडिग विश्वास के;
लालसा की तप्त लालिम शिखे—
स्थिर विस्तार संयम-धवल धृति के;
द्वैत के ओ दाह—
जड़ता के जगत् में अलौकिक सन्तोष सुकृति के;
अनाचारी, सर्वद्रावी, सर्वग्रासी—
ओ नियन्ता एक अभिनव शील के,
व्रती मेरे
यती संगी
हृदय के जगते उजाले, निवेदित इह के निवासी !

प्रणति ले
ओ नियति के प्रतिरूप—
जलते तेज जीवन के;
प्रखर स्वर विद्रोह के—
प्रतिपुरुष सात्विक मुक्ति के;
मेरी प्रणति ले
स्वयम्भू आलोक मन के !
प्रणति ले !

पराजय है याद

भोर बेला-नदी तट की घंटियों का नाद।
चोट खाकर जग उठा सोया हुआ अवसाद।

नहीं, मुझको नहीं अपने दर्द का अभिमान—
मानता हूँ मैं पराजय है तुम्हारी याद!

देखती है दीठ

हँस रही है वधू—जीवन तृप्तिमय है।
प्रिय-वदन अनुरक्त—यह उसकी विजय है।
गेह है, गति, गीत है, लय है, प्रणय है :
सभी कुछ है।
देखती है दीठ—
लता टूटी, कुरमुराता मूल में है सूक्ष्म भय का कीट !

तुम्हीं हो क्या बन्धु वह

तुम्ही हो क्या बन्धु वह, जो
हृदय में मेरे चिरन्तन जागता है ?
कांप क्यों सहसा गया मेरा सतत विद्रोह का स्वर—
स्तब्ध अन्त:करण में रुक गया व्याकुल शब्द-निर्झर ?
तुम्हीं हो क्या गान, जो
अभिव्यंजना मुझमें अनुक्षण मांगता है ?
खुल गया आक्षितिज नीलाकाश मेरी चेतना का,
छा गयी सम्मोहनी-सी झिलमिलाती मुग्ध राका;
तुम्हीं हो क्या प्लवन वह
आलोक का, जो सकल सीमा लांघता है ?
कहीं भीतर झर चले सब छद्म युग-युग की अपरिचिति के,
एक नूतन समन्वय में घुले सब आकार संसृति के;
तुम्हारा ही रूप धुंधला
क्या सदा मानस-मुकुर में भासता है ?
तुम्हीं हो क्या बन्धु वह जो
हृदय में मेरे चिरन्तन जागता है ?

दीप थे अगणित

दीप थे अगणित :
मानता था मैं कि पूरित स्नेह है।
क्योंकि अनगिन शिखाएँ थीं,
धूम था नैवेद्य द्रव्यों से सुवासित,
और ध्वनि ? कितनी न जाने घंटियाँ
टुनटुनाती थीं, न जाने शंख कितने
घोलते थे नाम :
नाम वह, आतंक जिसका
चीरता थर्रा रहा था गन्ध-मूर्छित-से
घने वातावरण को।

•

उपादानों की न थी कोई कमी।

मैं रहा समझे कि मैं हूँ मुग्ध।

जाना तभी सहसा
लुब्ध हूँ केवल—
कि लेकर जिसे अपने तईं मैं हूँ धन्य
जीवन
शून्य की है आरती !

वहा दूँ सब दीप ! बुझने दो
अगर है स्नेह कम। सारी शिखाएँ
लुटें। ग्रस ले धुआँ अपने आपको !
मुखर झनाते रहें या मूक हों
सब शब्द—पोपले वाचाल ये थोथे निहोरे।
जगा हूँ मैं:
क्यों करूँ आराधना उस देवता की
ज़ो कि मुझको सिद्धि तो क्या दे सकेगा—
जो कि मैं ही स्वयं हूँ !

राह बदलती नहीं

राह बदलती नहीं—प्यार ही सहसा मर जाता है,
संगी बुरे नहीं तुम—यदि निस्संग हमारा नाता है।
स्वयंसिद्ध है बिछी हुई यह जीवन की हरियाली—
जब तक हम मत बूझें सोच कर—'वह पड़ाव आता है!'

खुलती आँख का सपना

अरे ओ खुलती आँख के सपने !

विहग-स्वन सुन जाग देखा
उपा का आलोक छाया,
झिप गयी तव रूपकर्त्री
वासना की मधुर माया;
स्वप्न में छिन, सतत सुधि म,
सुप्त-जाग्रत तुम्हें पाया—
चेतना अधजगी, पलकें
लगी तेरी याद में कँपने !
अरे ओ खुलती आँख के सपने !

मुँदा पंकज अंक अलि को
लिये, सुध-बुध भूल सोता,
किन्तु हँसता विकसता है
प्रात में क्या कभी रोता ?
प्राप्ति का सुख प्रेय है, पर
समर्पण भी धर्म होता !
स्वस्ति ! गोपन भोर की पहली
सुनहली किरण से अपने !
अरे ओ खुलती आँख के सपने !

जब पपीहे ने पुकारा

जब पपीहे ने पुकारा
            मुझे दीखा—
दो पँखुरियाँ
झरीं लाल गुलाब की, तकती पियासी
पिया-से ऊपर झुके उस फूल को।

ओठ ज्यों ओठों तले।

मुकुर में देखा गया हो दृश्य पानीदार आँखों के।

हँस दिया मन दर्द से—
'ओ मूढ़! तूने अब तलक कुछ
            नहीं सीखा।'
जब पपीहे ने पुकारा
            मुझे दीखा।

सागर के किनारे

तनिक ठहरूँ। चाँद उग आये
तभी जाऊँगा वहाँ नीचे
कसमसाते रुद्ध सागर के किनारे।
चाँद उग आये।

न उसकी
बुझी फीकी चाँदनी में दिख शायद
वे दहकते लाल गुच्छ बुरूस के जो
तुम हो।

न शायद चेत हो मैं नहीं हूँ वह डगर
गीली दूब से मेदुर,
मोड़ पर जिसके नदी का कूल है, जल है,
मोड़ के भीतर—घिरे हों बाँह में ज्यों—
गुच्छ लाल बुरूस के उत्फुल्ल।

न आये याद मैं हूँ
किसी बीते साल के सीले कलेंडर की
एक बस तारीख जो हर साल आती है।
एक बस तारीख—अंकों में लिखी ही जो न जावे
जिसे केवल चन्द्रमा का चिह्न ही बस करे सूचित—
बंक—आधा—शून्य,
उलटा बंक—काला वृत्त,

यथा पूनो—तीन-तेरस—सप्तमी,
निर्जला एकादशी—
या अमावस्या।

अँधेरे में ज्वार ललकेगा—
व्यथा जागेगी। न जाने दीख क्या जाये
जिसे आलोक फीका सोख लेता है।

तनिक ठहरूँ। कसमसाते रुद्ध सागर के किनारे
तभी जाऊँ वहाँ नीचे—
चाँद उग आये।

।

दूर्वाचल

पार्श्व गिरि का नम्र, चीड़ों में
डगर चढ़ती उमंगों-सी ।
बिछी पैरों में नदी ज्यों दर्द की रेखा ।
विहग-शिशु मौन नीड़ों में ।
मैंने आँख भर देखा ।
दिया मन को दिलासा—पुनः आऊँगा ।
(भले ही बरस-दिन—अनगिन युगों के बाद !)
क्षितिज ने पलक-सी खोली,
तमक कर दामिनी बोली—
'अरे यायावर ! रहेगा याद ?'

मुझे सब कुछ याद है

मुझे सब कुछ याद है। मैं उन सबों को भी
नहीं भूला। तुम्हारी देह पर जो
खेलती हैं अनमनी मेरी उँगलियाँ—और जिनका खेलना
सच है, मुझे जो भुला देता है—
सभी मेरी इन्द्रियों की चेतना उनमें जगी है।

इन्द्रियाँ सब जागती हैं। और सब भूली हुई हैं खेल में
जिसमें तुम्हारा मैं सखा हूँ—
मानवों की सृष्टियों के जाल से उन्मुक्त—
पगहा तोड़ भागे हुए मृग-सा—
स्वयं मानव,
चिरन्तन की सृष्टि का लघु अंग।

किन्तु सोयी इन्द्रियों को जगाकर जो
स्वयं सोता है—
वह सभी को याद करता है।

जो भुलाता है, नहीं वह भूल पाता।
जो रमाता है, स्वयं निर्लेप है वह।
वही कहता है कि वे सब प्यार भी
जी रहे हैं—
तड़पते हैं—
हैं।

वे सब हैं।
और मेरे प्यार, तुम भी हो।
चाँदनी भी है।
मधु के गन्ध बहुविध—पल्लवों के, कोरकों के—
गन्धवह में बसे, वे भी हैं।
चाँदनी भी है।
नहीं है तो मैं नहीं हूँ।

इस लिए तुम प्यार लो मेरा—कि वह तो है।
प्यार है—निधि।
नहीं है तो मैं नहीं हूँ। किन्तु जो मिट गये उनका
प्यार ही तो
प्यार है।

प्यार लो मेरा—
उसी में चाँदनी है।
उसी में तुम
उसी में बीते हुए सब प्यार भी हैं।
नहीं है तो मैं नहीं हूँ
जो कि उन सबको कभी भूला नहीं हूँ।
मुझे सब कुछ याद है।

'अकेली न जैयो राधे जमुना के तीर'

'उस पार चलो ना ! कितना अच्छा है नरसल का झुरमु
अनमना भी सुन सका मैं
गूंजते से तप्त
अन्तःस्वर तुम्हारे तरल कूजन म।
'अरे, उस धूमिल विजन में ?'
स्वर मेरा था चिकना ही, 'अब घना हो चला झुटपु
नदी पर ही रहें, कैसी चाँदनी-सी है खिली !
'उस पार की रेती उदास है।'

'केवल बातें ! हम आ जाते अभी लौट कर छिन में—'
मान कुछ, मनुहार कुछ,
कुछ व्यंग्य वाणी में।
दामिनी की कोर-सी चमकी अँगुलियाँ
शान्त पानी में।
'नदी किनारे रेती पर आता है कोई दिन में ?
'कवि बने हो ! युक्तियाँ हैं तभी थोथी
'निरा शब्दों का विलास है।'

काली तब पड़ गयी साँझ की रेख।
साँस लम्बी स्निग्ध होती है—
मौन ही है गोद जिसमें
अनकही कुल व्यथा सोती ह।

में रह गया क्षितिज को अपलक देख ।
और अन्तःस्वर रहा मन में—
'क्या जरूरी है दिखाना तुम्हें वह जो दर्द
'मेरे पास है ?'

पावस-प्रात, शिलङ्

भोर वेला। सिची छत से ओस की तिप्-तिप्!
पहाड़ी काक
की विजन को पकड़ती-सी क्लान्त बेसुर डाक—
'हाक्! हाक्! हाक्!'

मत सँजो यह स्निग्ध सपनों का अलस सोना—
रहेगी बस एक मुट्ठी खाक!
'थाक्! थाक्! थाक्!'

क्षमा की बेला

आह—
भूल मुझ से हुई—मेरा जागता है ज्ञान,
किन्तु यह जो गाँठ है साझी हमारी,
खोल सकता हूँ अकेला
कौन से अभिमान के बल पर ?
—हाँ, तुम्हारे चेतना-तल पर
तैर आये अगर मेरा ध्यान,
और हो अम्लान
(चेतना के सलिल से धुल कर)

तो वही हो क्षमा की वेला—
अनाहत संवेदना ही में तुम्हारी
लीन हो परिताप, छूटे शाप,
मुक्ति की बेला—
मिटे अन्तर्दाह !

शरद

सिमट गयी फिर नदी, सिमटने में चमक आयी,
गगन के वदन में फिर नयी एक दमक आयी।
  दीप कोजागरी बाले कि फिर आवें वियोगी सब:
ढोलकों से उछाह और उमंग की गमक आयी।

बादलों के चुम्बनों से खिल अयानी हरियाली,
शरद की धूप में न्हा-निखर कर हो गयी है मतवाली।
  झुंड कीरों के अनेकों फबतियाँ कसते मँडराते:
झर रही है प्रान्तर् में चुपचाप लजीली शेफाली।

बुलाती ही रही उजली कछार की खुली छाती—
उड़ चली कहीं दूर दिशा को धौली बक-पाँती।
  गाज, बाज, बिजली से घेर इन्द्र ने जो रक्खी थी—
शारदा ने हँस के वो तारों की लुटा दी थाती।

मालती अनजान भीनी गन्ध का है झीना जाल फैलाती
कहीं उसके रेशमी फन्दे में शुभ्र चाँदनी पकड़ पाती!
  घर-भवन-प्रासाद खंडहर हो गये किन-किन लताओं की जकड़ में
गन्ध, वायु, चाँदनी, अनंग रहीं मुक्त इठलाती!

साँझ। सूने नील में दोले है कोजागरी का दिया।
हार का प्रतीक—'दिया सो दिया, भुला दिया जो किया!'
  किन्तु—शारद चाँदनी का साक्ष्य—यह संकेत जय का है—
प्यार जो किया सो जिया, धधक रहा है हिया, पिया!

कलकी पूनो

छिटक रही है चाँदनी,
मदमाती, उन्मादिनी,
कलगी-मौर सजाव ले
कास हुए हैं बावले,
पकी ज्वार से निकल शशों की जोड़ी गयी फलाँगती—
सन्नाटे में बाँक नदी की जगी चमक कर झाँकती !

कुहरा झीना और महीन,
झर-झर पड़े अकासनीम,
उजली-लालिम मालती
गन्ध के डोरे डालती;
मन में दुबकी है हुलास ज्यों परछाईं हो चोर की—
तेरी बाट अगोरते ये आँखें हुईं चकोर की !

सपने मैंने भी देखे हैं

सपने मैंने भी देखे हैं—
मेरे भी हैं देश जहाँ पर
स्फटिक नील सलिलाओं के पुलिनों पर
सुर-धनु सेतु बने रहते हैं।
मेरी भी उमगी कांक्षाएँ
लीला-कर से छू आती हैं रँगारंग फ़ानूस
व्यूह-रचित अम्बर-तलवासी द्योस्पितर के!
आज अगर मैं जगा हुआ हूँ अनिमिष—
आज स्वप्न-वीथी से मेरे पैर अटपटे भटक गये हैं—
तो वह क्यों? इसलिए कि आज
प्रत्येक स्वप्नदर्शी के आगे
गति से अलग नहीं पथ की यति कोई!
अपने से बाहर आने को छोड़
नहीं आवास दूसरा।
भीतर—भले स्वयं साँई बसते हों।
पिया-पिया की रटना!
पिया न जाने आज कहाँ हैं:
सूली पर जो सेज बिछी है, वह —
वह मेरी है!

सबेरे-सबेरे

सवेरे-सवेरे
नहीं आती बुलबुल,
न श्यामा सुरीली
न फुदकी न दँहगल
सुनाती हैं बोली;
नहीं फूलसुँघनी,
पतेना-सहेली
लगाती हैं फेरे।
जैसे ही जागा
कहीं पर अभागा
अड़ाता है कागा—
काँय ! काँय ! काँय !

बोलो भला सच-सच
कैसे विश्व-प्रेम फिर
ध्यावे कोई ?
कैसे आशीर्वच—
'मुदन्तु सर्वे प्रसीदन्तु सर्वे'
गावे कोई ?
ऐसी औंधी खोपड़ी
क्यों पावे कोई ?

काँय ! काँय ! काँय !
क्या करें, कहाँ जाँय ?
मुंह से यही हाय !
निकले है मेरे--
'धत्तेरे ! नास जाय !'
सच, मुंह-अँधेरे
सवेरे-सवेरे !

हमारा देश

इन्हीं तृण-फूस-छप्पर से
ढके ढुलमुल गँवारू
झोंपड़ों में ही हमारा देश
बसता है ।

इन्हीं के ढोल-मादल-बाँसुरी के
उमगते सुर में
हमारी साधना का रस
बरसता है ।

इन्हीं के मर्म को अनजान
शहरों की ढँकी लोलुप
विषैली वासना का साँप
डँसता है ।

इन्हीं में लहरती अल्हड़
अयानी संस्कृति की दुर्दशा पर
सभ्यता का भूत
हँसता है ।

एक ऑटोग्राफ़

अल्ला रे अल्ला
होता न मनुष्य में, होता करमकल्ला।
रूखे कर्म जीवन से उलझता न पल्ला।
चाहता न नाम कुछ
माँगता न दाम कुछ
करता न काम कुछ, बैठता निठल्ला—
अल्ला रे अल्ला।

कवि, हुआ क्या फिर

कवि, हुआ क्या फिर
तुम्हारे हृदय को यदि लग गयी है ठेस ?
चिड़ी-दिल को जमा लो मूँठ पर
('ऐहे, सितम, सैयाद !')
न जाने किस झरे गुल की सिसकती याद में
बुलबुल तड़पती है—
न पूछो, दोस्त ! हम भी रो रहे हैं लिये टूटा दिल !
('मियाँ, बुलबुल लड़ाओगे ?')

तुम्हारी भावनाएँ जग उठी हैं !
बिछ चलीं पनचादरें ये एक चुल्लू आँसुओं की—
डूब मर, बरसात !
सुनो कवि ! भावनाएँ नहीं हैं सोता,
भावनाएँ खाद हैं केवल !
जरा उनको दबा रखो
जरा-सा और पकने दो
ताने और तचने दो
अँधेरी तहों की पुट में पिघलने और पचने दो;
रिसने और रचने दो—
कि उनका सार बन कर चेतना की धरा को कुछ उर्वरा कर दे।

भावनाएँ तभी फलती हैं कि उनसे लोक के
कल्याण का अंकुर कहीं फूटे।

कवि, हृदय को लग गयी है ठेस ?
धरा में हल चलेगा !
मगर तुम तो गरेबाँ टोह कर देखो
कि क्या वह लोक के कल्याण का भी
बीज तुम में है ?

माहीवाल से

शान्त हो
काल को भी समय थोड़ा चाहिए।

जो घड़े—कच्चे, अपात्र!—डुबा गये मँझधार
तेरी सोहनी को चन्द्रभागा की उफनती छालियों में
उन्हीं में से उसी का जल अनन्तर तू पी सकेगा
औ' कहेगा, 'आह कितनी तृप्ति!'

क्रौंच बैठा हो कभी वल्मीक पर
तो मत समझ
वह अनुष्टुप् बाँचता है संगिनी के स्मरण के—
जान ले, वह दीमकों की टोह में है।

कविजनोचित न हो चाहे, यही सच्चा साक्ष्य है:
एक दिन तू सोहनी से पूछ लेना।

पुनराविष्कार

कुछ नहीं, यहाँ भी अन्धकार ही है,
काम-रूपिणी वासना का विकार ही है।
यह गुथीला व्योमग्रासी धुआँ जैसा
आततायी दृप्त-दुर्दम प्यार ही है।

शक्ति का उत्पात

क्रान्ति है आवर्त्त, होगी भूल उसको मानना धारा :
उपप्लव निज में नहीं उद्दिष्ट हो सकता हमारा ।
जो नहीं उपयोज्य, वह गति शक्ति का उत्पात भर है :
स्वर्ग की हो—माँगती भागीरथी भी है किनारा ।

सो रहा है झौंप

सो रहा है झौंप अँधियाला
नदी की जाँघ पर :
डाह से सिहरी हुई यह चाँदनी
चोर पैरों से उझक कर
झाँक जाती है।

प्रस्फुटन के दो क्षणों का मोल
शेफाली
विजन की धूल पर चुपचाप
अपने मुग्ध प्राणों से अजाने
आँक जाती है।

क्वाँर की बयार

इतराया यह मौर ज्वार का
क्वाँर की बयार चली,
शशि गगन पार हँसे न हँसे—
शेफाली आँसू ढार चली !
नभ में रवहीन दीन
बगुलों की डार चली;
मन की सब अनकही रही—
पर मैं बात हार चली !

जीवन

यहीं पर
सब हँसी,
सब गान होगा शेष :

यहाँ से
एक जिज्ञासा
अनुत्तर जगेगी अनिमेष !

नयी व्यंजना

तुम जो कुछ कहना चाहोगे
विगत युगों में कहा जा चुका :
सुख का आविष्कार तुम्हारा ?
बार-बार वह सहा जा चुका !
रहने दो, वह नहीं तुम्हारा
केवल अपना हो सकता जो
मानव के प्रत्येक अहं में
सामाजिक अभिव्यक्ति पा चुका !

एक मौन ही है जो अब भी
नयी कहानी कह सकता है;
इसी एक घट में नवयुग की
गंगा का जल रह सकता है;
संसृतियों की, संस्कृतियों की
तोड़ सभ्यता की चट्टानें—
नयी व्यंजना का सोता बस
इसी राह से बह सकता है !

बन्धु हैं नदियाँ

इसी जमुना के किनारे एक दिन
मैंने सुनी थी दुःख की गाथा तुम्हारी
और सहसा कहा था बेबस
'तुम्हें मैं प्यार करता हूँ।'
गहे थे दो हाथ मौन समाधि में
स्वीकार की।

इसी जमुना के किनारे आज
मैंने फिर कहा है वह : 'तुम्हें मैं प्यार करता हूँ।'
और उत्तर में सुनी है दुःख की गाथा तुम्हारी,
गहे हैं दो हाथ मौन समाधि में
उत्सर्ग की।

न जाने फिर
इसी जमुना के किनारे एक दिन
कर सकूँगा नहीं बातें प्यार की
सुननी न होगी दुःख की गाथा—
एक दिन जब बनेगा उत्सर्ग स्वीकृति
उच्चतर आदेश की !

बन्धु हैं नदियाँ
प्रकृति भी बन्धु है
और क्या जाने, कदाचित्
बन्धु
मानव भी !

मेरा तारा

ऐसे ही थे मेघ क्वाँर के,
यही चाँद कहता था
मुझ को आँख मार के
'अजी तुम्हारा मैं हूँ साथी—
'जीवन भर इस घुली चाँदनी में तुम
खेला करना खेल प्यार के !'

वही मेघ हैं, साँझ क्वाँर की,
वही चाँद, ध्वनि वैसी
दूर पार की :
'केवल मैं ही चिर-संगी हूँ
'क्योंकि अकेला हूँ उतना ही
'अपनी हिम-शीतल दुनिया में, जितने तुम उस दुनिया में हो।
'महाशून्य आकाश हमारा पथ है :
छोड़ो चिन्ता वार-पार की !'

उस दिन वह छोटा-सा तारा
वत्सल था—पर चुप था।
आज वही
चुप है, पर वत्सल।
स्मित, यद्यपि बेचारा,
मेरा तारा।

आत्मा बोली :

आत्मा बोली :
सुनो छोड़ दो यह असमान लड़ाई
लड़ना ही क्या है चरित्र ? यश जय ही ?
धैर्य पराजय में—यह भी गौरव है !

मैंने कहा :
पराजय में तो धैर्य सहज है, क्योंकि पराजय
परिणति तो है !
मैं तो अभी अधर में हूँ—लड़ता हूँ ।

आत्मा बोली :
किस बूते पर ? मेरे दो ही हैं सहकर्मी :
प्यार—सिखाता है जो देना,
आशा—जो चुक जाने पर भी रिक्त नहीं होने देती है ।
अब तो मैं हूँ निपट अकेली !

मैंने कहा :
सखी मेरी, तुम भले मान लो मुझे अकिंचन
पर क्या मेरी आस्था भी नगण्य है ?
देकर
देते-देते चुक जाने पर
वही प्रेरणा देती है—मैं दे सकने को
और नया कुछ रचूँ ! फिर रचूँ !
अभी न हारो, अच्छी आत्मा,
मैं हूँ, तुम हो,
और अभी मेरी आस्था है !

पहला दौंगरा

गगन में मेघ घिर आये ।

तुम्हारी याद
स्मृति के पींजड़े में बाँध कर मैंने नहीं रखी;
तुम्हारे स्नेह को भरना
पुरानी कुप्पियों में स्वत्व की
मैंने नहीं चाहा ।

गगन में मेघ घिरते हैं
तुम्हारी याद घिरती है ।
उमड़ कर विवश बूँदें बरसती हैं—
तुम्हारी सुधि बरसती है ।
न जाने अन्तरात्मा में मुझे यह कौन कहता है
तुम्हें भी यही प्रिय होता ।
क्योंकि तुमने भी निकट से दुःख जाना था ।

दुःख सब को माँजता है
और—
चाहे स्वयं सबको मुक्ति देना वह न जाने, किन्तु—
जिनको माँजता है
उन्हें यह सीख देता है कि सब को मुक्त रखें ।

मगर जो हो
अभी तो मेघ घिर आय

पड़ा यह दौंगरा पहला
धरा ललकी, उठी, बिखरी हवा में
बास सोंधी
मुग्ध मिट्टी की ।

भिगो दो, आह !
ओ रे मेघ, क्या तुम जानते हो
तुम्हारे साथ कितने हियों में कितनी असीसें
उमड़ आयी हैं ?

कलगी बाजरे की

हरी बिछली घास।
दोलती कलगी छरहरी बाजरे की।

अगर मैं तुम को
ललाती साँझ के नभ की अकेली तारिका
अब नहीं कहता,
या शरद के भोर की नीहार-न्हायी कुँई,
टटकी कली चम्पे की
वगैरह, तो
नहीं कारण कि मेरा हृदय उथला या कि सूना है
या कि मेरा प्यार मैला है।
बल्कि केवल यही :
ये उपमान मैले हो गये हैं।
देवता इन प्रतीकों के कर गये हैं कूच।

कभी वासन अधिक घिसने से मुलम्मा छूट जाता है।

मगर क्या तुम
नहीं पहचान पाओगी :
तुम्हारे रूप के—
तुम हो, निकट हो, इसी जादू के—
निजी किस सहज, गहरे बोध से,
किस प्यार से मैं कह रहा हूँ—

अगर मैं यह कहूँ—
विछली घास हो तुम
लहलहाती हवा में कलगी छरहरी बाजरे की ?

आज हम शहरातियों को
पालतू मालंच पर सँवरी जुही के फूल से
सृष्टि के विस्तार का—ऐश्वर्य का—
औदार्य का—
कहीं सच्चा, कहीं प्यारा
एक प्रतीक
बिछली घास है,
या शरद की साँझ के सूने गगन की पीठिका पर
दोलती कलगी अकेली
बाजरे की।

और सचमुच, इन्हें जब-जब देखता हूँ
यह खुला वीरान संसृति का घना हो सिमट आता है—
और मैं एकान्त होता हूँ
समर्पित।

शब्द जादू हैं—
मगर क्या यह समर्पण कुछ नहीं है ?

हरी घास पर क्षण भर

आओ बैठें
इसी ढाल की
हरी घास पर।
माली-चौकीदारों का यह समय नहीं है,
और घास तो
अधुनातन मानव-मन की भावना की तरह
सदा बिछी है—हरी, न्यौतती
कोई आकर रौंदे।

आओ, बैठो।
तनिक और सटकर, कि हमारे बीच स्नेह भर का व्यवधान रहे, बस,
नहीं दरारें सभ्य शिष्ट जीवन की।

चाहे बोलो
चाहे धीरे-धीरे बोलो,
स्वगत गुनगुनाओ,
चाहे चुप रह जाओ—
हो प्रकृतस्थ : तनो मत कटी-छँटी उस बाड़ सरीखी,
नमो, खुल खिलो, सहज मिलो
अन्तःस्मित, अन्तःसंयत
हरी घास-सी।

क्षण भर भुला सकें हम
नगरी की बेचैन बुदकती गड्डमड्ड अकुलाहट—
और न मानें उसे
पलायन;

क्षण भर देख सकें
आकाश, धरा,
दूर्वा, मेघाली,
पौधे,
लता दोलती,
फूल,
झरे पत्ते,
तितली-भुनगे,
फुनगी पर पूंछ उठा कर इतराती छोटी-सी चिड़िया—
और न सहसा चोर कह उठे मन में
प्रकृतिवाद है स्खलन
क्योंकि युग जनवादी है।

क्षण भर हम न रहें
रह कर भी :
सुनें गूंज भीतर के सूने सन्नाटे में
किसी दूर सागर की लोल लहर की
जिसकी छाती की हम दोनों छोटी-छोटी-सी सिहरन हैं—
जैसे सीपी सदा सुना करती है।
क्षण भर लय हों
मैं भी, तुम भी,

और न सिमटें सोच कि हमने
अपने से भी बड़ा किसी भी अपर को क्यों माना !

क्षण भर अनायास
हम याद करें :
तिरती नाव नदी में,
धूल भरे पथ पर असाढ़ की भभक,
झील में साथ तैरना,
हँसी अकारण खड़े महा-वट की छाया में,
वदन घाम से लाल, स्वेद से जमी अलक-लट,
चीड़ों का वन, साथ-साथ दुलकी चलते दो घोड़े,
गीली हवा नदी की, फूले नथुने,
भर्राई सीटी स्टीमर की,
खँडहर,
ग्रथित अँगुलियाँ,
बाँसे का मधु,
डाकिये के पैरों की चाँप,
अधजानी बबूल की धूल मिली-सी गन्ध,
झरा रेशम शिरीष का,
कविता के पद,
मसजिद के गुम्बद के पीछे सूर्य डूबता धीरे-धीरे,
झरने के चमकीले पत्थर,
मोर-मोरनी,
घुँघरू,
सन्थाली झूमुर का लम्बा कसक-भरा आलाप,
रेल का आह की तरह धीरे-धीरे खिचना,
लहरें,

आँधी-पानी,
नदी किनारे की रेती पर बित्ते भर की छाँह झाड़ की
अंगुल-अंगुल नाप-नाप कर तोड़े तिनकों का समूह,
लू,
मौन।
याद कर सकें अनायास
और न मानें
हम अतीत के शरणार्थी हैं;
स्मरण हमारा—
जीवन के अनुभव का प्रत्यवलोकन—
हमें न हीन बनावे
प्रत्यभिमुख होने के पाप-बोध से।

आओ बैठो :
क्षण भर :
यह क्षण हमें मिला है
नहीं नगर-सेठों की फ़ैयाजी से।
हमें मिला है यह अपने जीवन की निधि से ब्याज सरीखा।

आओ बैठो :
क्षण भर तुम्हें निहारूँ।
अपनी जानी एक-एक रेखा पहचानूँ
चेहरे की, आँखों की—
अन्तर्मन की
और—हमारी साझे की अनगिन स्मृतियों की :
तुम्हें निहारूँ,
झिझक न हो कि निरखना
दबी वासना की विकृति है!

धीरे-धीरे
धुंधले में चेहरे की रेखाएँ मिट जायें—
केवल नेत्र जगें :
उतनी ही धीरे
हरी घास की पत्ती-पत्ती भी मिट जावे
लिपट झाड़ियों के पैरों में
और झाड़ियां भी घुल जावें
क्षिति-रेखा के मसृण ध्वान्त में;
केवल बना रहे विस्तार—हमारा बोध
मुक्ति का,
सीमाहीन खुलेपन का ही।

चलो, उठें अब;
अब तक हम थे बन्धु
सैर को आये—
(देखे हैं क्या कभी घास पर लोट-पोट होते सतभैये शोर मचाते ?)
और रहे बैठे तो
लोग कहेंगे
धुंधले में दुबके प्रेमी बैठे हैं।

वह हम हों भी
तो यह हरी घास ही जाने :
(जिसके खुले निमन्त्रण के बल
जग ने सदा उसे रौंदा है
और वह नहीं बोली,)
नहीं सुनें हम वह नगरी के नागरिकों से
जिनकी भाषा में

अतिशय चिकनाई है साबुन की
किन्तु नहीं है
करुणा ।

उठो, चलें, प्रिय ।

नदी के द्वीप

हम नदी के द्वीप हैं।
हम नहीं कहते कि हम को छोड़ कर स्रोतस्विनी वह जाय।
वह हमें आकार देती है।
हमारे कोण, गलियाँ, अन्तरीप, उभार, सैकत कूल,
सब गोलाइयाँ उसकी गढ़ी हैं।

माँ है वह। है, इसी से हम बने हैं।

२.

किन्तु हम हैं द्वीप।
हम धारा नहीं हैं।
स्थिर समर्पण है हमारा। हम सदा से द्वीप हैं स्रोतस्विनी के।
किन्तु हम बहते नहीं हैं। क्योंकि बहना रेत होना है।
हम बहेंगे तो रहेंगे ही नहीं।
पैर उखड़ेंगे। प्लवन होगा। ढहेंगे। सहेंगे। बह जायेंगे।

और फिर हम चूर्ण होकर भी कभी क्या धार बन सकते?
रेत बन कर हम सलिल को तनिक गँदला ही करेंगे।
अनुपयोगी ही बनायेंगे।

३.

द्वीप हैं हम।
यह नहीं है शाप। यह अपनी नियति है।

हम नदी के पुत्र हैं। बैठे नदी की क्रोड़ में।
यह वृहद् भूखंड से हम को मिलाती है।
और वह भूखंड
अपना पितर है।

४

नदी, तुम बहती चलो।
भूखंड से जो दाय हम को मिला है, मिलता रहा है,
माँजती, संस्कार देती चलो:
यदि ऐसा कभी हो
तुम्हारे आह्लाद से या दूसरों के किसी स्वैराचार से—
अतिचार से—
तुम बढ़ो, प्लावन तुम्हारा घरघराता उठे—
यह स्रोतस्विनी ही कर्मनाशा कीर्त्तिनाशा घोर
काल-प्रवाहिनी बन जाय
तो हमें स्वीकार है वह भी। उसी में रेत होकर
फिर छनेंगे हम। जमेंगे हम। कहीं फिर पैर टेकेंगे।
कहीं फिर भी खड़ा होगा नये व्यक्तित्व का आकार।

मातः, उसे फिर संस्कार तुम देना।

छन्द है यह फूल

छन्द है यह फूल, पत्ती प्रास ।
सभी कुछ में है नियम की साँस ।
कौन-सा वह अर्थ जिसकी अलंकृति कर नहीं सकती
यही पैरों तले की घास ?

समर्पण लय, कर्म है संगीत;
टेक करुणा—सजग मानव-प्रीति ।
यति न खोजो—अहं ही यति है !—स्वयं रणरणित होते
रहो, मेरे मीत !

बने मंजूष यह अन्तस्

किसी एकान्त का लघु द्वीप मेरे प्राण में बच जाय
जिस से लोक-रव भी कर्म के समवेत में रच जाय।
बने मंजूष यह अन्तस् समर्पण के हुताशन का—
अकरुणा का हलाहल भी रसायन बन मुझे पच जाय!